ॐ

मुमुक्षुओंके लिए,

यहाँ मात्र आत्मार्थियोंके लिऐ ही ''दृष्टिका विषय'' स्पष्ट करने के लिए मेरे स्वानुभूतिपूर्वक के विचार (अनुभव) व्यक्त कर रहा हूँ। उसके उपर वाद या चर्चा के लिए नही। दूसरा, मैं कोई विद्वान या पंडित नहीं हूँ, इसीलिए मेरी भाषा या शैली को न देखते हुए, मात्र आत्मार्थे प्रस्तुत विषय का हार्द समझनेकी कोशिश करने के लिए विनंती है। हम कोई मत-पंथ में नहीं, हम आत्मा में है, इसीलिए कोई भी मत-पंथ का खंडन या मंडन यह हमारा उदेश्य नहीं। बल्कि सर्वे मुमुक्षुजन आत्मभाव को पावे-समयसाररुप आत्मा को पावे, यही अभ्यर्थना सह। 'समयसार' गाथा 143 के अनुसार- '' नयपक्ष से रहित जीव, समय से प्रतिबद्ध होता हुआ (अर्थात् चित्स्वरुप आत्मा का अनुभव करता हुआ), दोनों ही नयों के कथनको मात्र जानता ही है, परंतु नयपक्ष को किंचित्मात्र भी ग्रहण नहीं करता''।

प. पू. श्रीमद भगवत् कुंदकुंदाचार्य ने 'समयसार' की रचना ही इस उदेश्य से की है और उसके उपर पूज्य अर्मृतचंद्राचार्यने 'कलश' चढ़ाये। यह शास्त्रको पूज्य श्रीमद् राजचंद्रजी और पूज्य गुरूदेव ने लोकभोग्य बनाकर बहुत ही बड़ा उपकार किया है। 'समयसार' आध्यात्मिक शास्त्र होने से उसमें जो जीव का वर्णन है, वह दृष्टिका विषयरुप = समयसाररुप = कारणशुद्धपर्यायरुप = परमपारिणामिकभावरुप = भगवान आत्मारुप = ज्ञायकभावरुप = ज्ञानमात्ररुप = सहजज्ञानरुप = ज्ञानघनरुप = परमभावरुप = परमार्थरुप = शुद्धोपयोगकेविषयरुप = परमज्योतिरुप = चैतन्यचमत्कारमात्र रुप = भूतार्थ नयसे जाना हुआ जीवरुप = शुद्ध वस्तुमात्र जीवरुप = सम्यग्दर्शन केविषयरुप = टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावरुप = सम्यक् निश्चयरुप = नित्य ज्ञान-चेतना मात्र वस्तुरुप = परम अकर्ताभावरुप = भावश्रुतज्ञानरुप = उपाय-उपेय भावरुप एक ज्ञानरुप = अमेचकरुप = द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अखंड एक ज्ञायकरुप आत्मा का निरुपण है। आत्मा के पाँच भावों का वर्णन आगमों में है। आगमों में जो जीव का वर्णन है, वह उदय, उपशम, क्षयोपशम, क्षायिक और पारिणामिक भावरुप पाँच भावों से युक्त जीव का वर्णन है। यह पाँच भाव से युक्त जीवका निर्णय होने के बाद दृष्टिके विषय रुप=परमपारिणामिकभावरुप जीवराजाका वर्णन 'समयसार' जैसे अध्यात्म ग्रंथ में ही मिलता है। जिससे सबसे पहेले यह समझना बहुत ही आवश्यक है कि आगम और अध्यात्म में कोई विरोध नहीं है। आगमों में पाँच भावोंसे युक्त जीवका वर्णन है और 'समयसार' में स्व-प्रयोजन अर्थ जो पंचमभावरुप=परमपारिणामिकभावरुप जो जीवराजा है, जो कि ''दृष्टिका विषय'' है उसका ही वर्णन है। वही जीव अभिप्रेत (उपादेय)है। इसीलिए सर्व प्रथम तो आगम और अध्यात्मको अविरोध जानके जीव का स्वरुप जैसा है वैसा ही अनेकांतवादसे और स्याद्वाद शैली से जानकर तत्व का निर्णय करना आवश्यक है।

तत्व के निर्णय के लिए और दृष्टिका विषय समझने के लिए सर्व प्रथम वस्तु का ''द्रव्य-गुण-पर्याय'' रुप स्वरुप का निर्णय करना आवश्यक है। इसीलिऐ यहाँ सर्व प्रथम ''द्रव्य-गुण-पर्याय'' के स्वरुप पर प्रकाश डालता हूँ।

द्रव्य यह गुणों का समूह है, अर्थात् कोई भी द्रव्य अनंत गुणात्मक है। हर एक द्रव्य स्व द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावसे अभेद है। उसके हर प्रदेश पर अनंत गुण मौजूद है। और हर एक द्रव्य (और गुण) द्रवते हैं। अर्थात् कि परिणमते हैं। उसको उस द्रव्यकी(और गुणों की) पर्याय कहा जाता है।

यानि कि हर एक द्रव्य की वर्तमान हालत–अवस्था–परिणमन वह उस द्रव्य की वर्तमान पर्याय है। इसके उपर से तात्पर्यं यह है कि किसी भी द्रव्य की वर्तमान अवस्था ही उस द्रव्य की पर्याय है। (द्रव्य की वर्तमान अवस्था सामान्य–विशेषरुप होती है। उसका सामान्य अंश वह कारण शुद्ध पर्याय रुप = परम पारिणामिक भावरुप है और विशेष अंश वह उदय, उपशम, क्षयोपशम और क्षायिक भावरुप है।) अर्थात् हम जिसे वर्तमान पर्याय कहते हैं वास्तव में वह वर्तमान द्रव्य(पूरा अखंड द्रव्य) है। वह द्रव्य अखंड और अभेद है। वह अखंड और अभेद द्रव्य के वर्तमान को ही उसकी वर्तमान पर्याय ऐसा नाम दिया गया है। यानि कि वर्तमान पर्यायमें पूरा(अखंड और अभेद) वर्तमान द्रव्य है–वह मौजूद है यह समझना अत्यंत आवश्यक है।

पूज्य गुरुदेव के प्रवचन में–प्रवचन सुधा (गुजराती) भाग 5–पेज 116 या 124 के उपर बताया है कि– ''इसीलिए पर्यायों की विवक्षा के वक्त भी, असत् उत्पाद में, जो पर्याय है वह द्रव्य ही है....जो पर्याय है वह द्रव्य ही है(द्रव्यदृष्टि)। आ... हा... हा...! दूसरा द्रव्य नहीं है ऐसा कहना है। जो पर्याय है वह द्रव्य ही है। पर्याय बदलके दूसरी (पर्याय) हुई इसीलिए वह दूसरा द्रव्य है ऐसा नहीं है। और द्रव्य की विवक्षा के वक्त भी, सत् उत्पाद में, जो द्रव्य है वह पर्याय ही है(पर्यायदृष्टि)। जो द्रव्य है वह पर्याय ही है। जो पर्याय है वह द्रव्य है और जो द्रव्य है वह पर्याय ही है। आहा... हा...! असत् उत्पाद में भी अन्वय को गौण करके पर्याय की मुख्यता से कथन है। और सत् उत्पाद में अन्वय को मुख्य करके सत् उत्पन्न हुआ ऐसा कहने में आया है। लेकिन असत् उत्पन्न हुआ (ऐसा कहा) इसीलिए बिलकुल अन्वयका संबंध ही नहीं था ऐसा नहीं। पर्याय खुद द्रव्य है। आ... हा... . हा...! और द्रव्य खुद पर्याय है... विशेष कहेंगे...''

कुंदकुंदशतक में भी यही भाव को बताती हुई गाथाएँ इस प्रकार हैं– ''उत्पाद–व्यय–ध्रुव युक्त सत् द्रव्य का लक्षण कहा। पर्याय गुणमय द्रव्य है – यह वचन जिनवर ने कहा। ।।55।। पर्याय बिना ना द्रव्य हो, ना द्रव्य बिन पर्याय ही। दोनों अनन्य रहें सदा – यह बात श्रमणों ने कही ।।56।।''

यहाँ किसी को प्रश्न हो सकता है कि फिर पर्याय से रहित द्रव्य जो कि ''दृष्टिका विषय'' है– वह कैसे सिद्ध होगा? तो उनको हम कहते हैं कि वह भी सिद्ध हो जायेगा। वह कैसे सिद्ध होगा, वह तो हम ''दृष्टिका विषय'' में कहेंगे। इसीलिए यहाँ तो मात्र वस्तु का जो स्वरुप है–वह जैसे है वैसे ही समझ लेना अत्यंत आवश्यक है।

'समयसार' में बताया हुआ वस्तु का स्वरुप यहाँ बता रहे हैं...

गाथा–3–टीका में से..... एकीभाव से (एकत्व पूर्वक = अखंड और अभेद) अपने गुणपर्यायों को प्राप्त होकर जो परिणमन करता हैं सो समय है। .... वे सभी निश्चयसे (वास्तवमें) एकत्वनिश्चयको प्राप्त होने से ही सुंदरता को पाते हैं...

गाथा–7– टीका में से...... यद्यपि धर्म और धर्मीका स्वभाव से अभेद है तथापि नाम से भेद करके–व्यवहार मात्र से ही ऐसा उपदेश है कि ज्ञानी के दर्शन है, ज्ञान है, चारित्र है। किन्तु परमार्थसे देखा जाये तो (यहाँ यह समझना है कि आचार्य भगवंत परमार्थसे कह रहे हैं) अनंत पर्यायों को एक द्रव्य पी गया होनेसे (अर्थात् जो अनंत त्रिकालवर्ती पर्याये हैं वह द्रव्य ही है) जो एक है ऐसे कुछ – मिले हुए आस्वादवाले, अभेद, एक स्वभावी (तत्व) का अनुभव करनेवाले को दर्शन भी नहीं है, ज्ञान भी नहीं है, चारित्र भी नहीं है, एक शुद्ध ज्ञायक ही है। भेद नहीं है।

कलश–6– (श्लोकार्थ में से).... कैसा है आत्मा? अपने गुण–पर्याय में व्यापने वाला है।...

कलश–49–(भावार्थ में से).... इस प्रकार द्रव्य तो व्यापक है और पर्याय व्याप्य है। द्रव्य–पर्याय अभेदरुप ही है। जो द्रव्यका आत्मा, स्वरुप अथवा सत्व है वही पर्यायका आत्मा, स्वरुप अथवा सत्व है। (व्याप्य–व्यापक संबंध सार्वकालिक, सार्वदैशिक, सार्वव्यक्तिक, अविनाभाव संबंध होता है।).....

गाथा 77–टीका में से..... प्राप्थ, विकार्य और निर्वर्त्य ऐसा, व्याप्य लक्षणवाला आत्माका परिणामस्वरुप जो कर्म (कर्ता का कार्य = अर्थात् पर्याय), उसमें आत्मा स्वयं अंतर्व्यापक होकर, आदि–मध्य–अंत में व्याप्त होकर (अर्थात् वही पर्यायरुप परिणमके), उसे ग्रहण करता हुआ, उस रुप परिणमन करता हुआ और उस रुप उत्पन्न होता हुआ (यानि पूर्ण–अभेद–अखंड आत्मा ही उस पर्याय रुप परिणमा है,) उस आत्म परिणाम को करता है।.....

गाथा 83–टीका में से..... जैसे उत्तरंग (अर्थात् उत्पाद) और निस्तरंग (अर्थात् व्यय) अवस्थाओं को हवाका चलना और न चलना निमित्त होने पर भी हवा और समुद्र को व्याप्यव्यापक भाव का अभाव होनेसे कर्ताकर्मपने की असिद्धि है इसीलिऐ, समुद्र ही स्वयं अंतर्व्यापक होकर (यानि द्रव्य खुद ही) उत्तरंग अथवा निस्तरंग अवस्था में आदि–मध्य–अंतमें व्याप्त होकर उत्तरंग अथवा निस्तरंग ऐसा अपनेको करता हुआ (अर्थात् द्रव्य खुदही नवीन पर्यायरुप उत्पन्न होता है–परिणमता है और जिस रुप आगेकी पर्याय में था उसरुप से विनाश होता है) स्वयं एकको ही करता हुआ प्रतिभासित होता है परंतु अन्यको करता हुआ प्रतिभासित नहीं होता;

गाथा–85–टीका में से.... परिणाम (पर्याय) भी परिणामीसे (द्रव्यसे) भिन्न नहीं है क्योंकि परिणाम और परिणामी अभिन्न वस्तु हैं, अलग अलग दो वस्तु नहीं है।

कलश–51(श्लोकार्थ)– जो परिणमित होता है वह कर्ता है, जो परिणाम है सो कर्म है और जो परिणति है सो क्रिया है; यह तीनों, वस्तु स्वरुप से भिन्न नहीं है (भावार्थ में से... ... प्रदेशभेदरुप भिन्न वस्तुएं नहीं हैं)

कलश–56 (श्लोकार्थ में से)...जो अपने भाव (पर्याय) हैं सो तो आप (द्रव्य–अखंड आत्मा) ही है...

गाथा 151–टीका में से.... 'स्व' का भवनमात्रस्वरुप होनेसे स्वभाव है (अर्थात् द्रव्य खुद ही परिणमता है कि जिसका– 'स्व' का भाव है वह स्वभाव है)

गाथा 309 (गाथार्थ में से):– जीव और अजीव के जो परिणाम सूत्र में बताये हैं, उन परिणामों से उस जीव अथवा अजीव को अनन्य जानो। (अर्थात् वही रुप जानो)

दृष्टांत : मिट्टी का पिंड– मिट्टी यह द्रव्य, पिंड यह पर्याय याने पिंडरुप पर्यायमें मिट्टी समाई हुई है। अर्थात् मिट्टी का पिंड कहने से मिट्टी और पिंड यह कोई दो वस्तुएँ नहीं, किन्तु मिट्टी जोकी वस्तु है उसका ही वर्तमान, जो कि–मिट्टी का पिंड वह एक–अभेद–अखंड वस्तु है। जिसमें मिट्टी यह द्रव्य और उसका वर्तमान स्वरुप=जो की बदलता स्वरुप है उसको=परिणामसे देखनेसे पर्याय कहते हैं=मिट्टी का पिंड। अर्थात् मिट्टी रुप द्रव्य का वर्तमान कि जो पिंड रुप है उसे पर्याय कहते हैं। इसी तरहसे सोना और सोने का मुकुट, हार, वगेरह को भी घटाया जा सकता है।

इसी दृष्टांत को जब आत्मा के उपर घटाते हैं, तब आत्मा यह द्रव्य और उसका वर्तमान कि जो मनुष्य, नारक, देव, तिर्यच या सिद्ध रुप हो सकता है वह उसकी पर्याय है। इस तरह से मनुष्य पर्याय(पुदगलरुप नहीं) कहने से उस पर्यायरुप = मनुष्य अवस्थारुप आत्मद्रव्य की वर्तमान अवस्था= हालत = स्थिति ज्ञात होती है।

सिद्धांत यह है कि कोई भी द्रव्य, पर्याय बिना का नहीं होता, अर्थात् हर एक द्रव्य उसके वर्तमान सहित ही होता है अन्यथा उस द्रव्य का ही लोप हो जायेगा : नाश हो जायेगा। और हर एक पर्याय, द्रव्य बिना नहीं होती। अर्थात् कोई भी द्रव्य का वर्तमान वह द्रव्य के बिना नहीं होता। इससे समझना यह है कि द्रव्य और पर्याय यह एक ही द्रव्य का अनुक्रम से त्रिकालीरुप (द्रव्य) और वर्तमानरुप (पर्याय) अवस्था है। और उस द्रव्यकी जो विशिष्टाताएँ है (गुणधर्म है) उसीको ही गुण कहते हैं। ऐसी द्रव्य-गुण-पर्याय की अखंड-अभेद व्यवस्था है।

इस तरह से आचार्य भगवंतो ने द्रव्य-गुण-पर्याय का स्वरुप सर्व एकांत मतों का निराकरण करने के लिए बताया है। जैसे कोई मत द्रव्य को एकांत अपरिणामी ऐसा 'कूटस्थ नित्य' मानते हैं या कोई मत द्रव्य को एकांत 'क्षणिक' मानता है। इन दोनों एकांत मतोंका निराकरण आचार्य भगवंतों ने द्रव्य को 'परिणामी-नित्य' कहकर किया -कि जो व्यवस्था है = कि जो जिनमत है, अन्यथा जिनमत बाहय है। हर एक द्रव्य त्रिकाली है (था-है-होगा) और हर एक द्रव्य परिणामी है। अर्थात् उसकी अवस्था = दशा सदा बदलती रहती है- जिसको पर्याय कहते हैं। द्रव्य द्रव्यरुप से टिकते हुए परिणमता है- कि जिसको टिकता हुआ भाव- द्रव्य कहते हैं और परिणामको पर्याय कहते हैं। परिणमन को काल के सबसे सूक्ष्म अंश-समय से नापा जाता है, जो कि काल का अविभाज्य अंश है। इसीलिए पर्याय को एक समय की कही जाती है। इस तरह आचार्य भगवंतने द्रव्यको टिकता और परिणमता बताकर के सर्व एकांत दर्शन का निराकरण किया है।

द्रव्यमें टिकता और परिणमता ऐसा दो विभाग नहीं, किंतु एक ही अभेदद्रव्य टिकते हुए परिणमता है। जैसे कि आत्मा, आत्मस्वरुप से टिकता हुआ मनुष्य, तिर्यंच, नारकी, देव या सिद्ध रुपसे परिणमता है। वह आत्मद्रव्य और मनुष्य पर्याय(पुदगलरुप नहीं) यह दो नहीं, लेकिन वह एक-अभेद-अखंड ऐसा आत्मद्रव्य ही वर्तमान में मनुष्यरुप परिणमा है। इससे हम कह सकते हैं मनुष्य पर्याय यह आत्मद्रव्य का वर्तमान है अर्थात् आत्म द्रव्य की पर्याय है। अर्थात् वह मनुष्य पर्याय आत्मा ही है कि जिसका वर्तमान मनुष्यपणा है।

इस प्रकार से द्रव्य-गुण-पर्याय का अभेद-अखंड-एकरुप ऐसा स्वरुप समझना अत्यंत आवश्यक है कि जो छहों द्रव्यों की व्यवस्था है। ऐसा द्रव्य-गुण-पर्याय का अभेद रुप समझे बिना ''दृष्टिका विषय'' रुप अभेद आत्मतत्व की अनुभूति अशक्य है। क्योंकि पर्याय रहित द्रव्य को पाने की इरछा में द्रव्य का ही लोप हो जाता है और मात्र भ्रम ही हाथ में आता है। तो प्रश्न यह होता है कि ''पर्याय रहित का द्रव्य'' जो कि ''दृष्टिका विषय'' है उसे कैसे पाया जाय? उसके बारे में मेरी अल्पबुद्धि से और 'समयसार' के आधारसे बताने की कोशिश करूँगा, जिसे आप सब स्वानुभवसे प्रमाण करना ऐसी भावना सह। अगर किसी को यह बात अन्यथा लगे तो वे हमें माफ करें, मगर जो बातें आचार्य भगवंतों की यहाँ बताने में आयेंगी उसके उपर जरूर विचार करें ऐसी अपेक्षा सह ''दृष्टिका विषय'' बता रहा हूँ।

गाथा-2 (गाथार्थ) हे भव्य! जो जीव दर्शन, ज्ञान चारित्र में स्थित हो रहा है उसे निश्चयसे (वास्तवमें) 'स्वसमय' जानो; और जो जीव पुदगलकर्मो के प्रदेशोंमें स्थित है उसे 'परसमय' जानो। अर्थात् जो जीव, जीव का सहज परिणमनरुप(ज्ञान का ज्ञानरुप परिणमन, दर्शन का दर्शनरुप परिणमन, इत्यादि.....जैसे की ज्ञान का ज्ञानरुप सहज परिणमन वह ज्ञानसामान्यभाव = परमपारिणामिकभाव = निष्क्रिय भाव और ज्ञान का जानना वह ज्ञानविशेषभाव = क्षयोपशमभाव अथवा क्षायिकभाव) ज्ञान-दर्शन-चारित्ररुप भावों में (आत्मा के गुण अनंत है, लेकिन यहाँ मुख्य तीन

गुणों का उल्लेख है जिससे सभी गुण समझना।) अर्थात् आत्मा के सहज परिणमन में 'मैं पना' करें उसे 'स्वसमय'–सम्यग्दर्शनी जानो। और जो जीव पुद्गल कर्मों के विपाक से आत्मा में हुए विकाररुपभाव यानी विभावभाव में 'मैं पना' करें उसे 'परसमय'–मिथ्यात्वी जानो। यहाँ आईने के दृष्टांत से समझना यह है कि– जो आईने के स्वच्छत्वरुप परिणमन में 'मैं पना' करें वे 'स्वसमय' और जो प्रतिबिंब सहित के आईने में ''मैं पना'' करे वे 'परसमय' अर्थात् करना क्या है? तो कहते हैं कि प्रतिबिंबको गौण करके मात्र आईने को जानना – जैसे आत्मा के सहज परिणमनरुप 'परमपारिणामिकभाव'=ज्ञानसामान्यभाव=निष्क्रिय भाव में प्रतिबिंबित हो रहे बाकी के चार भाव हैं उन चार भावों को गौण करके मात्र स्वच्छत्वरुप परम पारिणामिक भावरुप 'स्वसमय' में 'मैं पना' करना। ऐसा किस तरह किया जा सकता है? तो इसकी विधि आचार्य भगवंत ने गाथा–11 में कतकफल रुप बुद्धि से ऐसा करनेको कहा है। और गाथा 294 में प्रज्ञाछैनी से यही प्रक्रिया करने को कहा है। यहाँ समझना यह है कि ''पर्याय रहित का द्रव्य'' अर्थात् आत्मा के चार भावों को गौण करके (रहित करके)पंचम भावरुप द्रव्य की प्राप्ति जो कि कतकफलरुप बुद्धिसे या प्रज्ञाछैनी से ही हो सकती है, अन्यथा नहीं। आचार्य भगवंत ने कोई भौतिक छैनी से जीव में भेदज्ञान करने को नहीं कहा है, क्योंकि जीव एक–अभेद–अखंड–ज्ञानघनरुप द्रव्य है, इसीलिए यह पर्याय रहित का द्रव्य प्राप्त करने के लिए प्रज्ञाछैनी रुप बुद्धि से चार भावों को गौण करने पर बाकी बचा हुआ पूर्ण एक मात्र भावकि जिसे परम पारिणामिक भाव–आत्मा का सदा एकरुप उपजनेवाला भाव में 'मैं पना' करने को कहा है, उसे ही 'स्वसमय' जानने से सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। मुख्य–गौणरुप व्यवस्था ज्ञान में ही होती हैं, दर्शन में नहीं। दर्शन(श्रद्धा) तो मात्र परमपारिणामिकभाव में ही ''मैं पना'' करता(करती) है। इसीलीये ही ''दृष्टिका विषय वह पर्याय रहित का द्रव्य'' कहा है, अन्यथा नहीं। और उसे पानेकी विधि उपर कहे अनुसार ही है अन्यथा नहीं।

टीका में से–आचार्य भगवंत टीका में लिखतें हैं कि.... (यह जीव पदार्थ कैसा है?) यह जीव पदार्थ सदा ही परिणामस्वरुप स्वभाव में रहता हुआ होनेसे (परमपारिणामिकभावरुप होनेसे) उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य की एकतारुप अनुभूति (अनुभूतिरुप भगवान आत्मा=जीवराजा द्रव्य पर्याय की एकता रुप होता है। कारण यह है कि पर्याय न होनेसे द्रव्य भी नहीं रहता, अर्थात् भौतिक छैनीसे यानि भौतिक विधि से पर्याय को न निकालते हुए, प्रज्ञाछैनी से परभावरुप चार भावों को निकालके अर्थात् गौण करके ही परमपारिणामिकभावरुप = सहज भवनरुप आत्मा शेष रहता है, उसमें 'मैं पना' करते ही अनुभूति होती है)(जिसका लक्षण है ऐसे) लक्षणयुक्त सत्ता सहित है........(और कैसा है?) अपने और परद्रव्यों के आकारों को प्रकाशित करने की सामर्थ्य होने से (अर्थात् स्व–पर प्रकाशकपना स्वाभाविक है। उसमें भी अगर पर को निकाल देंगे तो स्व ही नही रहेगा क्योंकि जहाँ पर का प्रकाशन होता है वह तो 'स्व' है–ज्ञान है–आत्मा है। उधर भी पर प्रकाशन गौण करना है, निषेध नहीं। पर प्रकाशन गौण करने से ही ज्ञान—आत्मभाव प्राप्त होता है।) जिसने समस्तरुप को प्रकाशनेवाली एकरुपता प्राप्त की है (जो समस्त रुप को प्रकाशता है उसे गौण करने से– जो भाव—ज्ञान शेष रहता है, वही ज्ञानरुप एकरुपता प्राप्त की है। अर्थात् ज्ञानघन पना प्राप्त किया है).... इस विशेषण से, ज्ञान अपने को ही जानता है, परको नहीं,– इस प्रकार एकाकार को ही माननेवाले का, तथा अपने को नहीं जानता किन्तु पर को जानता है, इस प्रकार अनेकाकारको ही माननेवाले का व्यवच्छेद हो गया। (यहाँ समझना यह है कि कोई भी एकांत जिनमत बाहय है। ऐसा जो कथन है कि– अंत में अनेकांत भी सम्यक् एकांत पाने के लिए है। उसका हार्द ऐसा है कि जो पाँच

भावरुप जीवका वर्णन है कि जो अनेकांतरुप है, वह परमपारिणामिकभावरुप सम्यक् एकांत पाने के लिऐ है। नहीं कि 'आत्मा वास्तव में पर को जानता नही' या 'कोई भी अपेक्षा (विवक्षा) से आत्मा में राग-द्वेष है ही नहीं, वगैरे रुप एकांत प्ररुपणाओं-जो कि जिनमत बाहय है।)......जब यह (जीव), सर्व पदार्थों के स्वभाव को प्रकाशित करने में समर्थ केवलज्ञानको उत्पन्न करनेवाली भेदज्ञानज्योतिका उदय होनेसे, सर्व परदव्योंसे छूटकर दर्शन-ज्ञानस्वभावमें (यहाँ सर्व गुण समझना) नियत वृत्तिरुप (पर्यायरुप=परमपारिणामिकभावरुप=कारणशुद्धपर्यायरुप) (अस्तित्वरुप) आत्मतत्व के साथ एकत्वरुप में लीन होकर (मात्र उसमें ही 'मैं पना' करता हुआ) प्रवृत्ति करता है तब दर्शन-ज्ञान चारित्र में (यहाँ सब गुण समझना) स्थित होने से अपने स्वरुप को एकत्वरुपसे एक ही समय में जानता तथा परिणमता हुआ (अर्थात् मात्र सहज आत्म परिणतिरुप=परमपारिणामिकभावरुप=कारणशुद्धपर्यायरुप आत्मा में ही 'मैं पना' करता हुआ) वह 'स्वसमय' है (सम्यग्दर्शनी है), इस प्रकार प्रतीत किया जाता है;... मोह उसके उदयानुसार प्रवृत्ति की आधीनतासे, दर्शनज्ञान स्वभाव में नियत वृत्तिरुप आत्मतत्व (=दृष्टिका विषय=कारणशुद्धपर्याय=परमपारिणामिकभाव) से छूटकर परद्रव्य के निमित्त से उत्पन्न मोहरागद्वेषादि भावोंमें एकतारुप से लीन होकर (पाँच भावरुप जीव में ''मैं पना'' करके) प्रवृत्त होता है तब .... 'पर समय' है, ... (अर्थात् मिथ्यात्वी है।)

गाथा 3(गाथार्थ में से)- एकत्व निश्चय को प्राप्त (जिसने मात्र परमपारिणामिकभाव में ही 'मैं पना' किया है ऐसा) जो समय है वह लोक में सब जगह सुंदर है.... (जो आत्मा 'स्वसमय' में स्थित है वे (सम्यग्दृष्टि) सब जगह सुंदर है (सुखी है), परंतु जो 'परसमय' में स्थित है (मिथ्यात्वी है) वह दुःखी है... उपर गाथा-2 में समझाया है उसके अनुसार समझना)

गाथा-6- टीका में से - जो स्वयं अपने से ही सिद्ध होने से (किसी से उत्पन्न हुआ न होने से), अनादि सत्तारुप है, कभी विनाश को प्राप्त न होने से अनंत है, नित्य उद्योतरुप होने से (सहज आत्म परिणमन रुप=परमपारिणामिकभावरुप=कारणशुद्धपर्यायरुप) क्षणिक नहीं है और स्पष्ट प्रकाशमान ज्योति है, ऐसा जो ज्ञायक एक 'भाव' है (परमपारिणामिकभाव है), वह संसारकी अवस्था में अनादि बंधपर्याय की निरुपणासे (अपेक्षा से) क्षीरनीर की भाँति कर्मपुदगलों के साथ एकरुप होने पर भी, (अर्थात् परमपारिणामिकभावरुप जीव के सहज परिणमन में ही बाकी के चार भाव होते हैं। गाथा 164-165(गाथार्थ में से)..... 'संज्ञ आस्रव-जोकि जीव में उत्पन्न होते हैं वे जीव के ही अनन्य परिणाम है।' अर्थात् जीव ही उस रुप से परिणमा है, अर्थात् जीव में एक भाग शुद्ध और दूसरा अशुद्ध ऐसा नहीं समझते हुए, समझना यह है कि जो जीव उदय-क्षयोपशम भावरुप परिणमा है उसमें छिपा हुआ स्वरछत्वरुप जो जीव का परिणमन है=जीसे परमपारिणामिकभाव कहते हैं, उसमें अन्य भावों को गौण करके 'मैं पना' करते ही एक ज्ञायकभाव अनुभव में आता है। यही अनुभव की विधि है। जैसे स्फटिक में कपडे की झांय से स्फटिक रंगीन दिखता है परंतु वह रंगीन नहीं है, वैसे ही रागद्वेष रुप परिणमा हुआ जीव रागी द्वेषी लगता होने के बावजूद याने वर्तमान में उस रुप होने के बावजूद, वह उसका त्रिकाल स्वरुप नहीं। वह उसका 'स्व' भाव नहीं। उसका 'स्व' भाव तो परमपारिणामिकभावरुप सहज आत्म परिणमन है कि जिसमें ''मैं पना'' करने पर जीव 'स्वसमय' (सम्यग्द्रष्टि) है।), द्रव्य के स्वभाव की अपेक्षा से (उपर समझाया हुआ द्रव्य का 'स्व' भाव=परमपारिणामिकभाव=कारणशुद्धपर्याय) देखा जाये तो दुरंत कपायचक्र के उदय की (कपायसमूह के अपार उदयोंकी) विचित्रता के वशसे प्रवर्तमान पुण्य-पापको उत्पन्न करनेवाले समस्त अनेकरुप

शुभ–अशुभ भाव, उनके स्वभावरुप परिणमित नहीं होता (ज्ञायकभाव से जड़भावरुप नहीं होता) इसीलिए वह प्रमत्त भी नहीं है और अप्रमत्त भी नहीं है; वही समस्त अन्यद्रव्यों के भावोंसे (यानी कि जीव के चार भावरुप– कि जिसमें अन्यद्रव्य का नैमित्तिक पना है) भिन्न रुपसे (अर्थात् जीव के चार भावों को गौण करके पंचमभावरुप=परमपारिणामिकभावरुप) उपासित होता हुआ 'शुद्ध' कहलाता है। (यहाँ यह समझना जरूरी है कि 'राग कोई भी अपेक्षा से जीव में नहीं है' वगैरह रुप एकांत प्ररुपणा जिनमत बाहय है। इसीलिए ऐसी प्ररुपणा करने वाले और उसमें फँसे भोले जीव=उस प्ररुपणा को सच मानने वाले भोले जीव भ्रम में रहकर अतिउत्तम ऐसा मानवजन्म और वीतराग का धर्म व्यर्थ गवाँता है। इसीलिए करूणा बुद्धि से यह सब लिखा है, उसको कोई ने अन्यथा लेकर हमसे द्वेष नहीं करना यह विनंति है।)

और जैसे दाहय (जलने योग्य पदार्थ) के आकार होने से अग्निको दहन कहते हैं (ज्ञान को ज्ञेयाकार परिणमन होने से स्व–पर को जाननेवाला कहते हैं) तथापि उसके दाहयकृत अशुद्धता नहीं होती, उसी प्रकार ज्ञेयाकार होने से उस 'भाव' (ज्ञानाकार) के ज्ञायकता प्रसिद्ध है (ज्ञान का स्व–पर का जानना प्रसिद्ध है), तथापि उसको ज्ञेयकृत अशुद्धता नहीं है (क्योंकि ज्ञेय को ज्ञेय रुप=तद्रुप परिणमके जानना नहीं होता=ज्ञान को ज्ञेय के साथ व्याप्य–व्यापक संबंध नहीं होने से, ज्ञान को अपने आकार (ज्ञेयाकार) के साथ व्याप्य–व्यापक संबंध होने से ज्ञेयकृत अशुद्धता=ज्ञेय ज्ञायक में प्रवेश नहीं कर कर सकती); क्योंकि ज्ञेयाकार अवस्था में (अर्थात् स्व–पर के जाननेके काल में) जो ज्ञायकरुप से (जाननेवाले के रुपसे) ज्ञात हुआ वह स्वरुप प्रकाशनकी (स्वरुप को जानने की=अर्थात् वह ज्ञेय को ज्ञानाकार देखने से और उसी ज्ञानाकार को ज्ञानरुप देखने से यानि कि ज्ञेयों को गौण करने से परमपारिणामिकभाव अनुभव में आता है। आईने के दृष्टांत में जैसे प्रतिबिंब को गौण करने से आईने का स्वच्छत्वरुप परिणमन पाया जाता है) अवस्था में भी, दीपक की भाँति, कर्ता–कर्म का अनन्यत्व (एकता) होने से (अर्थात् जो स्वच्छत्वरुप परिणमन है=परमपारिणामिकभाव है=ज्ञानसामान्य भाव है=निष्क्रियभाव है उसी में स्व–पर का जानना=विशेषभाव होता है, इसीलिए अगर परके जानने का निषेध करने पर वह स्वच्छत्वका–भगवान आत्मा के निषेध रुप होने से, समझे बिगर निषेध करनेवाले भ्रम को पाते हैं, भ्रमित दशा को पाकर यह अमुल्य मनुष्य जन्म और वीतरागका शासन मिला है उसे व्यर्थ गँवायेगा। यह कारण है कि करूणापूर्वक इतना लिखना पड़ा है, उसको उसी भाव से समझना, उसको अन्यथा लेकर हम पर द्वेष न करें यह विनंती है।) ज्ञायक ही है– स्वयं जाननेवाला है इसीलिए स्वयं कर्ता और अपनेको जाना इसीलिए स्वयं ही कर्म है। (यहाँ स्व–पर का जानना यह भगवान आत्मा में जाने की सीढ़ी के रुप में बताया है। कारण ज्ञायक ही खुद जाननेवाला है। जानना और ज्ञायक (जाननेवाला) को अनन्यपना=एकपना बताके जो जानना है (प्रतिबिंब है) उसे गौण करते ही ज्ञायक (जाननेवाला) जानने में आता है इसीलिए सीढ़ी रुप है।)

भावार्थ में पंडित जयचंदजी लिखते हैं कि– 'ज्ञायक' नामभी उसे (शुद्धात्माको=दृष्टिके विषय को=परमपारिणामिकभावरुप आत्माको) ज्ञेयको जानने से दिया जाता है; क्योंकि ज्ञेय का प्रतिबिंब जब झलकता है तब ज्ञान में वैसा ही अनुभव होता है। तथापि उसे ज्ञेयकृत अशुद्धता नहीं है, क्योंकि जैसा ज्ञेय ज्ञान में प्रतिभासित हुआ वैसा ज्ञायकका ही अनुभव करने पर (ज्ञेयको गौण करते ही वहाँ ज्ञायक ही है) ज्ञायक ही है। 'यह जो मैं जानने वाला हूँ सो मैं ही हूँ, अन्य कोई नहीं' ('यह जो परका जानने वाला हूँ सो मैं ही हूँ, अन्य कोई नहीं') ऐसा अपने को अपना अभेदरुप अनुभव हुआ

तब इस जाननरुप क्रिया का कर्ता स्वयं ही है, और जिसे जाना वह कर्म भी स्वयं ही है। (यहाँ समझना यह है कि 'आत्मा वास्तव में पर को नहीं जानता' जैसी प्ररुपणा करके आत्मा में जानेका रस्ता-सीढ़ी बंद करके क्या मिलेगा? मात्र भ्रम ही मिलेगा। क्योंकि पर के जानने का निषेध करके जाननेवाले का निषेध होता है।) ऐसा एक ज्ञायकत्वमात्र (जाननेवाला मात्र) स्वयं शुद्ध है- यह शुद्धनय का विषय है। (यहाँ समझना यह है कि जैसे पहले दृष्टिका विषय बताया वैसे ही - 'पर्याय से रहित द्रव्य'-अर्थात् प्रतिबिंब से रहित- अर्थात् प्रतिबिंब को गौण करते ही वहाँ जाननेवाले के रुप में ज्ञायक ही हाजिर है, वही 'दृष्टिका विषय' है, वही परमपारिणामिकभाव है, वही कारणशुद्धपर्याय है, वही कारणशुद्धपरमात्मा है, वही समयसाररुप जीवराजा है। यहाँ कोई भौतिक छैनी की आवश्यकता नहीं है क्योंकि आत्मा अभेद-अखंड है, उसमें से कुछ भी निकल नहीं सकता। और अगर कोई कुछ निकालने की कोशिश करेगा तो आत्मा खुद ही निकल जायेगा-आत्मा का ही लोप हो जायेगा। और निकालने वाला खुद आकाश के फूल की भाँति भ्रम में रहेगा। इसीलिए यहाँ प्रज्ञारुप छैनी का उपयोग करके-कतकफलरुप बुद्धिपूर्वक वह प्रतिबिंबरुप उदय-क्षयोपशम भाव को गौण करते ही वहाँ साक्षात् शुद्धात्मारुप परम पारिणामिक भाव हाजिर ही है। यही सम्यग्दर्शनकी विधि है। जो कि आचार्य भगवंत और पंडितजी ने गाथा 6 में बतलाई है।)''

पंडितजी आगे बताते हैं कि - ''यहाँ यह भी जानना चाहिऐ कि जिनमतका कथन स्याद्वादरुप है, इसीलिए अशुद्धनयको सर्वथा असत्यार्थ न माना जाये। (यहाँ वह समझना है कि - 'जैसे आगे बताया कि गाथा 164-165 में भाव आस्रवको जीवसे अनन्य कहा, इसीलिए 'जीवमें कोई भी अपेक्षा से राग होता ही नहीं' जैसी प्ररुपणायें जिनमत बाहय है।); क्योंकि स्याद्वाद प्रमाणसे शुद्धता और अशुद्धता - दोनों वस्तुके धर्म हैं और वस्तुधर्म वस्तुका सत्व है (अर्थात् वह वस्तुही है=आत्माही है) (यहाँ समझना यह है कि गाथा 164-165 में बताये अनुसार राग-द्वेषरुप परिणाम आत्मा में ही होता है=आत्मा ही उसरुप परिणमता है। और वह परिणमन मौजूद होते हुए भी, उसको गौण करते ही उसमें थ्छपा परम पारिणामिकभावरुप=समयसाररुप=कारणशुद्धपर्यायरुप आत्मा मौजूद ही है।); अन्तरमात्र इतना ही है कि, अशुद्धता परद्रव्य के संयोग से होती है।..... अशुद्धनयको असत्यार्थ कहने से यह न समझना चाहिऐ कि आकाश के फूल की भाँति वह वस्तुधर्म सर्वथा ही नहीं है (जैसा है, वैसा ही समझना, अर्थात् उसको गौण करते ही ज्ञायक मौजूद है), ऐसा सर्वथा एकांत समझने से मिथ्यात्व होता है (यहाँ पंडितजी ने जो एकांत ही समझकरके, एकांत की ही प्ररुपणा करते हैं उसे सावधान किया है।); इसीलिए स्याद्वादकी शरण लेकर शुद्धनयका अवलंबन लेना चाहिऐ। (अर्थात् जीव को पाँच भावरुप जानके, चार भाव को गौण करते ही सम्यक् एकांतरुप शुद्धात्मा=परमपारिणामिकभाव प्रगट होता है)

गाथा-7-टीका में से.... क्योंकि अनंतधर्मोवाले एक धर्मीमें (भेद से समझके, अभेद अनुभूति) जो निष्णात नहीं है ऐसे निकटवर्ती शिष्यों को, धर्मीको बतानेवाले कितने ही धर्मोके द्वारा उपदेश करते हुए आचार्यो का- यद्यपि धर्म और धर्मीको स्वभावसे अभेद है तथापि नामसे भेद करके (अभेद द्रव्य में द्रव्य-गुण-पर्यायरुप नामसे भेद करके) व्यवहार मात्र से ही ऐसा उपदेश है कि ज्ञानी के दर्शन है, ज्ञान है, चारित्र है। किन्तु परमार्थसे (दृष्टिका विषयरुप अभेदनयसे) देखा जाये तो अनंतपर्यायों को एक द्रव्य पी गया होने से जो एक है (अर्थात् द्रव्य ने उस उस पर्यायरुप परिणमन करते हुए भी खुदका द्रव्यपना छोड़ा नहीं है- 'जैसे मिट्टी घट, पिंड आदि रुपसे परिणमते हुऐ भी

मिट्टीपना नहीं छोड़ती बल्के हर पर्याय में वह मिट्टीपना व्याप्य-व्यापक संबंध से है। इसीलिए पर्याय अनंती होने पर भी वह द्रव्य तो एक ही है)....

गाथा-8 गाथार्थ में से - जैसे अनार्य जनको अनार्य भाषा के बिना किसी भी वस्तु का स्वरुप ग्रहण करनेके लिए कोई समर्थ नहीं है (यहाँ आचार्य भगवंत कहते हैं कि- ''अनार्य भाषा के बिना-अर्थात् अभेद ऐसे आत्मा में भेद उपजाके-जैसे कि द्रव्य-गुण-पर्याय-ज्ञान-दर्शन-चारित्र-47 शक्ति, वगैरह रुप भेद उपजाये बिना अज्ञानी को आत्मा का स्वरुप ग्रहण कराने को कोई समर्थ नहीं है, फिर भी वह भेद हेय है क्योंकि भेद मात्र समझाने के लिए है, अनुभवन के लिए नहीं क्योंकि अनुभवन जो यथार्थ ऐसा अभेद आत्मा का ही होता है। अर्थात् पारमार्थिक आत्मा में कोई भी भेद नहीं समझना और जो भेद में ही रहेगा उसे तब तक अभेद का अनुभव नहीं होगा, क्योंकि भेद तो, व्यवहार रुप, मात्र अज्ञानी को स्वरुप ग्रहण कराने के लिए ही बतलाए हैं। वास्तवमें(वस्तुस्वरूपमें) है नहीं।)

गाथा-11-टीका में से- व्यवहारनय सबही अभूतार्थ है (भेदरुप व्यवहार कि जो मात्र आत्मा के स्वरुप ग्रहण कराने के लिए हस्तावलंबनरुप जानके प्ररुपणा की है), इसीलिए वह अविद्यमान, असत्य, अमूत अर्थ को प्रगट करता है (अर्थात् जैसा अभेद आत्मा है वैसा उस व्यवहार रुप भेद से नहीं समझाता हुआ)... यही बात दृष्टांत से बताते हैं : (दृष्टांत में जीवको-आगमों में बताये हुए जीव को-उदय-क्षयोपशम भावयुक्त बताके उसमेंसे उपादेय ऐसा जीव जो कि दोनों भावों को गौण करनेसे परमपारिणामिकभावरुप जीव प्रगट होता है, जो कि 'समयसार' जैसे आध्यात्मिक शास्त्र का प्राण है, उसे ग्रहण कराते हैं।)- जैसे प्रबल कीचड़के मिलने से (प्रबल उदय-क्षयोपशमभावयुक्त) जिसका सहज एक निर्मलभाव (परमपारिणामिकभाव) तिरोभूत (आरछादित) हो गया है, ऐसे जलका अनुभव करनेवाले पुरूष (अज्ञानी) जल और कीचड़का विवेक न करनेवाले (दोनोंके भेदको न समझनेवाले) बहुत से तो उस जलको (जीवको) मलिन ही अनुभवते हैं (उदय-क्षयोपशमरुप ही अनुभवते हैं), किन्तु कितनेही (ज्ञानी) अपने हाथ से डाले हुए कतकफल (बुद्धिरुप-प्रज्ञाछैनी) के पड़ने मात्रसे उत्पन्न जल-कादवके विवेकतासे (अर्थात् कीचड़ जल में होते हुए भी जलको स्वच्छ अनुभव करनेवाले=आत्मा वर्तमान में उदय क्षयोपशमरुप परिणाम हुआ होने पर भी उसमें छिपा हुआ- अर्थात् उदय-क्षयोपशमभाव को गौण करते ही वह उदय क्षयोपशमभाव जिसमें होते है वैसा एक सहजआत्मपरिणामस्वरुप=परमपारिणामिक भावरुप आत्मा का अनुभव करते हैं), अपने पुरूषार्थ द्वारा आविर्भूत किये गये सहज एक निर्मलभावपने से (परमपारिणामिकभावपनेसे) उस जल को (आत्मा को=जीवको) निर्मल ही अनुभव करते हैं; इसी प्रकार प्रबल कर्मों के मिलनेसे जिसका सहज एक ज्ञायक भाव (परम पारिणामिक भाव) तिरोभूत हो गया है, ऐसे आत्मा का अनुभव करने वाले पुरुष (अज्ञानी) आत्मा और कर्म का विवेक (भेद) न करने वाले, व्यवहारसे विमोहित हृदय वाले तो, उसे (आत्मा को) जिसमें भावों कि विश्वरुपता (अनेकरुपता) प्रगट है ऐसा अनुभव करते हैं; किन्तु भूतार्थदर्शी (शुद्धनय को देखनेवाले ज्ञानी) अपनी बुद्धि से डाले हुए शुद्धनय (प्रज्ञाछैनी) के अनुसार बोध होनेमात्रसे उत्पन्न आत्मकर्मके विवेकतासे (भेदज्ञानसे), अपने पुरुषार्थ द्वारा आविर्भूत किये गये सहज एक ज्ञायकभावत्वके (परमपारिणामिकभावके) कारण उसे (आत्मा को) जिसमें एक ज्ञायकभाव प्रकाशमान है (परमपारिणामिक भाव प्रकाशमान है) ऐसा अनुभव करते हैं।....

भावार्थ में पंडितजी ने बताया है कि- जीव को जैसे है वैसे ही- सर्व नय से निर्णय करके सम्यक् एकांतरुप शुद्धनय को जानो (मैंपना करो) नहीं कि एकांत 'अपरिणामी ऐसा शुद्ध' उससे तो

मिथ्या दृष्टिका प्रसंग होगा क्योंकि जिनवाणी स्याद्वादरुप है। प्रयोजनवश नय को मुख्य-गौण करके कहती है। जैसे कि- मलिन पर्याय को गौण करते ही शुद्धभावरुप परमपारिणामिकभाव हाजिर ही है, नहीं कि- पर्याय को भौतिक रीतिसे अलग करके, क्योंकि अभेद द्रव्य में भौतिक रीतिसे पर्यायको अलग करने की व्यवस्था ही नहीं। इसीलिए विभावभावको गौण करते ही (पर्याय रहितका दव्य) परम पारिणामिक भाव रुप अभेद-अखंड-आत्मा का ग्रहण होता है। यही उसकी विधि है।

गाथा-12 (गाथार्थमें से) - परमभाव को देखनेवाले (ज्ञानीको) तो शुद्ध (आत्मा)का उपदेश करने वाला शुद्धनय जानने योग्य है। (जिससेकी वह आत्मभाव में ही रहनेका उद्यम कर सके); और जो जीव अपरमभाव में स्थित है (अज्ञानी है) उसे व्यवहार द्वारा (अभेद रुप आत्मा में भेदरुप व्यवहार उपजाकर के आत्मा का स्वरुप ग्रहण कराने के लिए) उपदेश करने योग्य है।

भावार्थ में पंडित जयचंदजी का कहना है कि-अगर कोई जीव अपरमभाव में स्थित है (अज्ञानी है) और वह व्यवहार छोड़ देता है। (भेदरुप और व्यवहारधर्मरुप दोनों) और साक्षात शुद्धोपयोगकी प्राप्ति तो हुई नहीं है (यानि निश्चय सम्यग्दर्शन हुआ नहीं) इसीलिए उल्टा अशुभ उपयोग में आके, भ्रष्ट होके, स्वछंदरुपे प्रवर्ते तो वह नरकादि गति और परंपरा निगोद को प्राप्त होकर संसार में ही भ्रमण करें। यहाँ समझना यह है कि-आत्मा अज्ञान अवस्था में 24 घंटे कर्म का बंध करता है, इसीलिए करूणावंत आचार्य भगवंतोंने कहा है कि (उपदेश दिया है कि) जबतक तत्व का निर्णय और उसका अनुभवन नहीं होता तबतक, उसीको लक्ष्य रखकर (शुद्धका ही एकमात्र लक्ष रखकर) नियमसे शुभ में रहने जैसा है, नहीं कि अशुभ में। क्योंकि अशुभ से तो देव-शास्त्र-गुरू का संयोग मिलना भी कठिन हो जाय ऐसा है। इस बात में जिसका विरोध हो वह हमको माफ करें, क्योंकि यह बात हमने निष्पक्ष भाव से बताई है और सर्व आचार्य भगवंतों ने भी बताई है। और जहाँ-जहाँ (जिसभी गाथामें) इस बात का सर्वथा निषेध करने को कहा है, वह एक मात्र शुद्धभाव का लक्ष कराने के लिए ही कहा है, नहीं कि अशुभ भाव में रमने के लिए। और मुनिराजको छठवें गुणस्थान में इस बात का निषेध सातवें गुणस्थानरुप अभेद आत्मनुभुति में स्थिर होकर आगे बढ़ते हुए केवलज्ञान और मोक्ष प्राप्त करने के लिए है, नहीं कि-छठवें गुणस्थानक में सहजरुप से जो शुभभाव होता है उसका निषेध करके निम्न गुणस्थान में यानि कि अविरति या मिथ्यात्वि गुणस्थानक में आने के लिए। इसीलिए सभी मुमुक्षुओं को यह बात यथार्थ-जैसे है वैसे ही समझना अत्यंत आवश्यक है। जैसेकि श्रीमद राजचंद्रजी ने आत्मसिद्धि में कहा है कि 'निश्चयवाणी सुनके, साधन तजना नहीं; निश्चय रखके लक्ष में, साधन करना अच्छा' (131) यहाँ समझना यह है कि-अहोभाव मात्र मात्र मात्र शुद्ध का ही, शुभ का नही; किन्तु जब तक शुद्धरुप नहीं परिणमता तब तक रहना तो शुभ में ही।

कलश-4-(श्लोकार्थ-) निश्चय और व्यवहार- इन दो नयोंके विषय के भेदसे परस्पर विरोध है; उस विरोधका नाश करने वाला 'स्यात्' पदसे चिन्हित जो जिन भगवान का वचन (वाणी)है उसमें जो पुरुष रमते हैं (प्रचुर प्रीति सहित अभ्यास करते हैं) वे अपने आपही (अन्य कारण के बिना) मिथ्यात्व कर्मके उदय का वमन करके इस अतिशयरुप परमज्योति प्रकाशमान शुद्धआत्माको तत्काल ही देखते हैं। (कौन देखते हैं? तो कहते हैं कि-'स्यात्' वचन में जो रमते हैं वह, नहीं कि-एकांत का आग्रही पुरुष। अर्थात् सम्यक्दर्शन जोकि सम्यक् एकांत रुप है फिर भी एकांत का आग्रह नहीं होता। प्ररुपणा तो अनेकांतकी ही, जैसा है वैसा ही, स्यात्वचन रुप से ही होती है।) (कैसा है समयसाररुप शुद्ध आत्मा?) साररुप शुद्धात्मा नवीन उत्पन्न नहीं हुआ; किन्तु पहले कर्मों से आच्छादित था सो वह प्रगट व्यक्तिरुप हो गया है। (जो अज्ञानी पहले आत्मा को उदय-क्षयोपशमरुप देखता था उसी भाव

को गौण करते ही समयसाररुप=परमपारिणामिकभावरुप=परमज्योतिरुप आत्मा प्रगट होता है=जानने में आता है=अनुभव में आता है=व्यक्ति रुप होता है।) और कैसा है? सर्वथा एकांतरुप कुनय के पक्ष से खंडित नहीं होता, निर्बाध है। (अर्थात् जो सम्यक्दर्शनके लिए सर्वथा एकांतनय की प्ररुपणा करते हैं उसको आत्मा कभी भी प्राप्त होने योग्य नहीं।)

कलश–5–गाथा 11 और 12 को दृढ़ कराते हैं– कि जो भेदरुप व्यवहारनय है वह अज्ञानी को मात्र समझाने के लिए है। लेकिन वैसे भेदरुप आत्मा नहीं है। इसीलिए आश्रय तो अभेदरुप आत्मा का– शुद्धात्माका कि जिसमें परद्रव्यों से होनेवाले भावों को गौण किये हैं, उसीका ही करना है। क्योंकि वही आत्मा उपादेय है।

कलश–6– यहाँ आचार्य भगवंत कहते हैं कि – 'यह नव तत्वों की परिपाटी है उसको छोडके (गौण करते ही) देखतेही– उस भावको अनुभवते ही आत्मा प्राप्त होता है।'

कलश–7– यहाँ आचार्य भगवंत गाथा 13 का ही भाव व्यक्त कर रहे हैं। कि नव तत्व में व्याप्त ऐसी आत्मज्योति (सम्यकदर्शनरुपआत्मा=परमपारिणामिकभाव) नव तत्वों को गौण करते ही ऐसी एक–अखंड आत्मज्योति प्राप्त होती है।'

गाथा–13 भूतार्थ नय से ज्ञात जीव, अजीव और पुण्य, पाप तथा आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष–यह नव तत्व सम्यक्त्व हैं। (यह गाथा 'समयसार' के सार रुप है। सर्व अधिकार का उल्लेख करके यह गाथा में सर्व अधिकारों का साररुप सम्यक्त्वरुप आत्मा का स्वरुप दर्शाया है।)

टीका– यह जीवादि नवतत्व भूतार्थनयसे जाने हुए सम्यग्दर्शन ही है (यह नियम कहा) (भूतार्थ नयसे अर्थात् अभेदनयसे– यह जीवादि नवतत्वरुपसे आत्मा परिणमता है, फिर भी उस नवतत्वों को गौण करते ही 'पर्याय से रहित द्रव्य' की प्राप्ति होती है–सम्यग्दर्शन होता है); क्योंकि तीर्थकी (व्यवहार धर्मकी) प्रवृत्ति के लिए अभूतार्थ(व्यवहार)नयसे कहा जाता है (अर्थात् जो जीव अपरमभाव में स्थित है–अज्ञानी है उसको म्लेरछकी भाषामे अर्थात् आगम की भाषा में जीवको उदय–उपशम–क्षयोंपशम–क्षायिक–पारिणामिक ऐसे पाँच भावरुपसे समझाया जाता है।) ऐसे नवतत्व जिनके लक्षण–जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, निर्जरा, बँध और मोक्ष है–उनमें एकत्व प्रगट करनेवाले भूतार्थनय से एकत्व प्राप्त करके (अर्थात् वे सब रुप से आत्मा परिणमा है वह बाह्य निमित्त का भाव या अभाव होने से परिणमा है, वह सब तत्व रुप परिणमा हुआ भाव को गौण करते ही एक अभेद ऐसा सहजपरिणमनरुप आत्मा कि जो परमपारिणामिकभावरुप है=समयसाररुप है उसकी प्राप्ति होती है), शुद्धनयरुप से स्थापित आत्मा की अनुभूति–जिसका लक्षण आत्मख्याति है–वह प्राप्त होती है। (सम्यक्त्वरुप=समयसाररुपआत्मा की प्राप्ति होती है) (शुद्धनयसे नवतत्वों को जानने से आत्मा की अनुभूति होती है इस हेतुसे यह नियम कहा है।) वहाँ, विकारी होनेयोग्य (आत्मा) और विकार करनेवाला(कर्म) दोनों पुण्य है....; क्योंकि एकसे ही (आत्माको) अपने आप पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध, मोक्ष का उपपत्ति (सिद्धि=वह भावरुप आत्मा का परिणमना) नहीं बनती। वे दोनों जीव (भावकर्म) और अजीव (द्रव्यकर्म) है (अर्थात् उन दोनों में से एक जीव है और दूसरा अजीव)।

बाह्य (स्थूल) द्रष्टिसे देखा जाये तोः– जीव–पुदगल कि अनादि बंध पर्यायके समीप जाकर एकरुप से अनुभव करने पर यह नवतत्व भूतार्थ है, सत्यार्थ है (अर्थात् आगममे निरुपित पाँच भावयुक्त जीवमें यह नवतत्व भूतार्थ है, सत्यार्थ है।) और एक जीव द्रव्य के स्वभाव के ('स्व' का भाव=स्व का सहजपरिणमनरुपभाव=परमपारिणामिकभाव=कारणशुद्धपर्याय=कारणशुद्धपरमात्मारुप भाव)

समीप जाकर अनुभव करने पर वे अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ हैं; ('समयसार' जैसे आध्यात्म ग्रंथ में निरूपित शुद्धात्मरुप जीवमें वे अभूतार्थ है, असत्यार्थ हैं) (वे जीवके एकाकार स्वरुपमें नहीं है;) इसीलिए इन नवतत्वोंमें भूतार्थनयसे एक जीव ही प्रकाशमान है।...यही गाथा का भाव कलश 8 में विशेष रुप से समझाया है। दर्शाया है।

कलश–8–(श्लोकार्थ–)इस प्रकार नवतत्वों में बहुत समयसे छिपी हुई यह आत्मज्योति (आत्मा का उदय–क्षयोपशमरुप जो भाव हैं वे सर्व जीव को अनादि के होते हैं। जो अज्ञानी जीव है, वह उसमें ही रमता है, फिर भी हर एक जीव में अनादिसे परमपारिणामिकभावरुप छिपी हुई आत्म ज्योति मौजूद रहती ही है, हाज़िर होती ही है। मात्र अन्य भावों को गौण करके उसका लक्ष करते ही वह प्राप्त होती है), शुद्धनय से (उपर कहा वैसे ही–अशुद्ध भावों को गौण करते ही) बाहर निकालकर प्रगट की गई है, जैसे वर्णो के समूह में छिपे हुए एकाकार सुवर्ण को बाहर निकालते हैं वैसे, इसीलिए अब हे भव्य जीवों! इसे सदा अन्य द्रव्यों से तथा उनसे होने वाले नैमित्तिक भावों से भिन्न, एकरुप देखो। यह ज्योति (परमपारिणामिकभाव), पद पद पर अर्थात् प्रत्येक पर्याय में एकरुप चित्चमत्कारमात्र उद्योतमान है। (पर्याय में पूर्ण जीव व्यक्त होता होने से=पर्याय में पूर्ण द्रव्य आ जाता होने से ऐसा कहा है। अर्थात् पर्याय ही वर्तमान जीवद्रव्य है ऐसा जो आगे समझाया वह दृढ़ होता है।)

यहाँ यह समझना ज़रूरी है कि आगम और अध्यात्म में विरोध है ही नहीं। क्योंकि आगम से जीव का जैसा स्वरुप है वैसा समझके अर्थात् जीव को सर्वनय से जानके अध्यात्मरुप शुद्धनय से ग्रहण करते ही सम्यक्दर्शन रुप आत्मज्योति प्रगट होती है; प्राप्त होती है।

कलश–9 (श्लोकार्थ में से)– आचार्य शुद्धनय का अनुभव करके कहते हैं कि– इन समस्त भेदोंको गौण करनेवाला जो शुद्धनय (अर्थात् जीवमें भेद रुप द्रव्य–गुण—पर्याय अथवा उदय–उपशम–क्षयोपशमरुप भावों को गौण करके परमपारिणामिकभावरुप=समयसाररुप शुद्धनय) का विषयभूत चैतन्य–चमत्कार मात्र (ज्ञानमात्र=परमपारिणामिकभावमात्र) तेजःपुंज आत्मा है, उसका अनुभव होने पर नयोंकी लक्ष्मी उदित नहीं होती, (परमपारिणामिकभाव में कोई भी विकल्परुप नय, निक्षेप, स्वपर रुप भाव नहीं है, उसमें मात्र एक ही भाव है–'मैं पना' है) प्रमाण अस्त हो जाता है और निक्षेपों का समूह कहाँ चला जाता है सो हम नहीं जानते। इससे अधिक क्या कहें? द्वैत ही प्रतिभासित नहीं होता। (आत्म अनुभूति के काल में मात्र 'मैं पने' का ही आनंद= वेदन होता है, वहाँ स्व–पररुप द्वैत नहीं होता।)

कलश–10–(श्लोकार्थ–) शुद्धनय आत्मस्वभाव को प्रगट करता हुआ ('स्व' के भवनरुप 'स्व' का सहज परिणमनरुप=परमपारिणामिकभावरुप प्रगट करता हुआ) उदयरुप होता है। (वह आत्म स्वभाव को कैसा प्रगट करता है? अर्थात प्रगट हुआ है जो आत्म स्वभाव वह कैसा है?) वह आत्म स्वभाव को परद्रव्य, परद्रव्य के भाव तथा परद्रव्य के निमित्तसे होने वाले अपने विभाव–ऐसे परभावों से भिन्न प्रगट करता है। (परदव्य और परदव्य के भाव तो अजीव रुप है और वह जीव से प्रगट भिन्न है और परद्रव्य के निमित्त से होने वाले अपने विभाव है, वह जीवरुप है, इसीलिए यह विभावों को गौण करके उस विभावों में छिपी हुई आत्मज्योति को मुख्य करते हैं।) और वह आत्मस्वभाव सम्पूर्ण रुप से पूर्ण है=समस्त लोकालोकका ज्ञाता है–ऐसा प्रगट करता है; (यहाँ समझना यह है कि– परमपारिणामिकभावरुप आत्मा का अर्थात् ज्ञान का लक्षण=ज्ञान का स्वभाव स्व–पर को

जानने का है, इसीलिए वह ज्ञान नाम सार्थक है। जैसे कि आईनेका स्वभाव प्रतिबिंबरुप से पर को झलकाने का है, वह प्रतिबिंब को गौण करते ही वहाँ उस आईनेका स्वच्छत्वरुप स्वभाव हाजिर है। वैसे ही ज्ञान का स्वभाव लोकालोक को झलकाने का है, इसीलिए उसे ज्ञान कहते हैं, वह ज्ञेय रुप झलकनको गौण करते ही वहाँ ज्ञानमात्र रुप=परम पारिणामिक भाव रुप=ज्ञायक हाज़िर ही है। इसीलिए अगर 'आत्मा वास्तव में पर को जानता ही नहीं' ऐसा कहेंगे तो आत्मा के लक्षण का अभाव होता है, और उससे आत्मा का ही अभाव होता है।) और वह, आत्मस्वभाव को आदि-अंत से रहित प्रगट करता है। (परमपारिणामिकभाव वह आत्माका अनादि-अनंत 'स्व' भवनरुप स्वभाव है।) और वह, आत्म स्वभाव को एक सर्व भेदभावों से (द्वैतभावों से) रहित एकाकार प्रगट करता है (सर्व प्रकारके भेदरुप भाव- जैसे कि द्रव्य-गुण-पर्याय, ज्ञान-दर्शन-चारित्र, स्व-पर रुप भावों से रहित प्रगट करता है), और जिसमें समस्त संकल्प-विकल्प के समूह विलीन हो गये हैं ऐसा प्रगट करता है। (उदय-क्षयोपशमरुप भावों को गौण करते ही परमपारिणामिकभावरुप आत्मा में कोई भी संकल्प या विकल्प-नय-प्रमाण-निक्षेप, वगैरह नहीं रहते ऐसा आत्मा उदित होता है) ऐसा शुद्ध नय प्रकाशरुप होता है।

गाथा-14-टीका- निश्चय से अबद्ध-अस्पृष्ट (आत्मा के उदय, उपशम, क्षयोपशम और क्षायिक ऐसे चार भावों से अबद्ध-अस्पृष्ट), अनन्य (फिर भी आत्मा के सहज परिणमन रुप पर्याय से अनन्य=परमपारिणामिकभावरुप=कारणशुद्धपर्यायरुप), नियत (नियम से गुणों के परिणमन रुप), अविशेष (जिसमें विशेष रुप चार भावों का अभाव है ऐसा; सामान्यपरिणमनरुप=सहजपरिणमनरुप) और असंयुक्त (वह उपर कहे गये चार भावों से संयुक्तपना नहीं करता ऐसा अर्थात् वह चार भावों को गौण करते ही शुद्धनय का विषयभूत आत्मा प्राप्त होता है) -ऐसे आत्मा की अनुभूति शुद्धनय है, और वह अनुभूति आत्मा ही है; इस तरह आत्मा एक ही प्रकाशमान है।...

कलश-11-(श्लोकार्थ-) जगतके प्राणियों! इस सम्यक् स्वभाव का अनुभव करो कि जहाँ वह बद्धस्पृष्टादिभाव (उपर कहे हुए चारभाव) स्पष्टतया उस स्वभाव के ऊपर तैरते हैं (अर्थात् यह चार भाव उपजते तो हैं परमपारिणामिकभावरुप आत्मा में ही), तथापि (परमपारिणामिकभाव में) वे प्रतिष्ठा नहीं पाते, क्योंकि द्रव्य स्वभाव (द्रव्यरुप आत्मा का 'स्व'के भवनरुप 'स्व'भाव) तो नित्य है (अर्थात् ऐसे का ऐसे ही होता रहता है,) एकरुप है (अनन्यरुप है=अभेद है=वहाँ द्रव्य-पर्याय रुप कथनभेद होने के बावजूद भावभेद नहीं है। क्योंकि वह पर्याय में ही पूर्ण द्रव्य मौजूद है, समा गया है) और वह भाव (अर्थात् अन्य चार भाव) अनित्य है, अनेकरुप है; पर्यायें (यह चार भाव रुप परिणमन=विभावभाव) द्रव्य स्वभाव में प्रवेश नहीं करती, उपर ही रहती है। (यह चारभाव परम पारिणामिकभावरुप द्रव्य स्वभाव में प्रवेश नहीं करते।) यह शुद्ध स्वभाव ('स्व'के भवन रुप=परम पारिणामिकभावरुप) सर्व अवस्थाओं में प्रकाशमान है। (आत्मा में त्रिकाल है इसीलिए उसे त्रिकाली शुद्ध भाव कहा जाता है।) ऐसे शुद्ध स्वभाव को, मोह रहित होकर जगत अनुभव करें; (यह चार भावों को गौण करके अनुभव करो); क्योंकि मोहकर्म के उदय से उत्पन्न मिथ्यात्वरुपी अज्ञान जहाँ तक रहता है, वहाँ तक यह अनुभव यथार्थ नहीं होता।

कलश-12-(श्लोकार्थ-)यदि कोई सुबुद्धि (अर्थात् जिसको तत्वनिर्णय हो गया है वैसा और जो सम्यक्त्व पर्यायसे अगली पर्यायमें स्थित है ऐसा) जीव भूत, वर्तमान और भविष्य-तीनों कालमें कर्मों के बंध को अपने आत्मा से तत्काल-शीघ्र भिन्न करके (यानि कर्म रुप पुदगल को जड़रुप जानकर

के और खुद को चेतन रुप जान के) तथा उस कर्मोदय के निमित्त से होने वाले मिथ्यात्व (अज्ञान) को अपने बल से (पुरूषार्थ से) रोककर अथवा नाशकरके (कलश 11 में बताये अनुसार चार भावों को गौण करके खुद को परमपारिणामिकभावरुप अनुभवते ही मिथ्यात्व उपशम या क्षय हो जाता है। अर्थात् खुद को त्रिकालीशुद्धभावरुप=परमपारिणामिकभावरुप जनाने का पुरूषार्थ करके) अंतरंग में अभ्यास करें–देखे तो वह आत्मा अपने अनुभवसे ही जानने योग्य जिसकि प्रगट महिमा है ऐसा व्यक्त, (अनुभवगोचर), ध्रुव (निश्चल), शाश्वत, नित्य कर्मकलंक–कर्दमसे रहित(परमपारिणामिकभावरुप) स्वयं ऐसा स्तुति करने योग्य देव विराजमान है।

यहाँ अब विस्तार भय से ज्यादा न लिखते हुए 'समयसार' की कुछ गाथाएँ, टीका और कलश के ऊपर कुछ बता करके पूरा करने की भावना है।

गाथा–294– टीका में से.... आत्मा का स्व लक्षण चैतन्य है, क्योंकि वह समस्त शेष द्रव्यों से असाधारण है (अर्थात् वह अन्य द्रव्यों में नहीं है)। वह(चैतन्य) प्रवर्तमान होता हुआ (परिणमता हुआ) जिस—जिस पर्याय को व्याप्त होकर प्रवर्तता है (अर्थात् जिस—जिस पर्यायरुप से परिणमता है अर्थात् जो पर्याय है, वह दव्य का वर्तमान है) और निवर्तमान होता हुआ जिस जिस पर्याय को ग्रहण करके निवर्तता है वे समस्त सहवर्ती या क्रमवर्ती पर्यायें आत्मा है इस प्रकार लक्षित करना चाहिए (यहाँ समझना यह है कि– आत्मा द्रव्य अभेद है, वह अभेदरुप से ही परिणमता है। इसीलिए कहा है कि– समस्त सहवर्ती या क्रमवर्ती पर्यायें आत्मा है। यहाँ सर्व प्रथम द्रव्य–गुण–पर्याय के बारे में जो कहा वह भाव दृढ़ होता है) (यहाँ बताया हुआ भाव गाथा 309 में भी दृढ़ होता है)

गाथा 309– जीव और अजीव के जो परिणाम सूत्र में बताये हैं, उन परिणामोंसे उस जीव अथवा अजीवको अनन्य जानो। (यही कारण है कि दृष्टिका विषय जो कि 'पर्याय से रहित द्रव्य है' उसे प्राप्त करने की विधि गाथा 294 में प्रज्ञारुपी छैनी=भगवतीप्रज्ञा=ज्ञानस्वरुपबुद्धि–तत्व के निर्णय वाली बुद्धि कही, जिससे कि विभावरुप भाव को गौण करते ही शुद्धनयरुप=समयसाररुप आत्मा प्राप्त होता है।)

गाथा 356 गाथार्थ में से– जैसे ख़डी पर की नहीं है, खडी तो खडी ही है, वैसे ही ज्ञायक (जाननेवाला आत्मा) परका नहीं है (ज्ञायक अर्थात् जाननेवाला अर्थात् जिसका स्व–पर को जानने का स्वभाव है वैसा होने के बावजूद वह ज्ञायक पररुप से परिणमके नहीं जानता, इसीलिए वह परका नहीं है। बल्के स्व परका जानना तो 'स्व'का ही परिणमन है), ज्ञायक वह तो (स्व–पर को जाननेवाला तो) ज्ञायक ही है। (प्रतिबिंब को गौण करते ही मात्र परमपारिणामिकभावरुप ज्ञायक ही है।)

कलश–215 (श्लोकार्थ में से)– जिसने शुद्ध द्रव्यके निरुपण में बुद्धिको लगाया है और जो तत्वका अनुभव करता है (अर्थात् कि जो सम्यकदृष्टि है वो), उस पुरुष को एक द्रव्य के भीतर कोई भी अन्य दव्य रहता हुआ कदापि भासित नहीं होता। (जैसे आईने में प्रतिबिंब होने के बावजूद ज्ञानी उस आईने में वह अन्य पदार्थ की जो प्रतिबिंबरुप है उसको आईने में घूसा हुआ नहीं मानता। ज्ञानी उसको आईने का ही परिणाम मानता है। अर्थात् वहाँ उस प्रतिबिंब को गौण करके आईने को आईने के रुप में अनुभव करता है।) ज्ञान ज्ञेय को जानता है (अर्थात् ज्ञान स्व–पर प्रकाशक है नहीं कि 'आत्मा वास्तव में पर को नहीं जानता' ऐसा है) वह तो यह ज्ञान के शुद्ध स्वभाव का उदय है। जबकि ऐसा है (अर्थात् स्वभावसे ही ज्ञान स्व–पर को जानता है ऐसा ही है) तब फिर लोग (अज्ञानी–मिथ्यात्वी) ज्ञान को अन्य दव्य के साथ स्पर्श होनेकी मान्यतासे आकुल बुद्धिवाले होते हुए

(अर्थात् अज्ञानी=मिथ्यात्वी ज्ञान अगर परको जानेगा तो ज्ञान को परका स्पर्श हो गया ऐसा मान के आकुल बुद्धिवाला होता है) तत्व से (शुद्धस्वरुपसे–अर्थात् सम्यग्दर्शनसे) क्यों च्युत होते हैं?

वस्तु का स्वरुप अनेकांतमय है। वह जैसा है वैसा ही समझना अत्यंत जरूरी है, अन्यथा मिथ्यात्व का नाश करना संभव ही नहीं। अनेकांत का स्वरुप 'समयसार' के परिशिष्ट में भी बताया है, उसके उपर थोड़ा गौर करेंगे।

कलश–247–(के बाद टीका)– और जब यह ज्ञानमात्रभाव एक ज्ञानआकारका ग्रहण करने के लिए (परमपारिणामिकभावकी अनुभूति के लिए) अनेक ज्ञेयाकारोंके त्याग द्वारा अपना नाश करता है (अर्थात् ज्ञान में जो अनेक ज्ञेयों के आकार आते हैं उनका त्याग करके अपने को नष्ट करता है, अर्थात् ''आत्मा वास्तव में पर को नहीं जानता'' ऐसा कहने पर ज्ञान का नाश का प्रसंग आ जाता है। यही बात अपेक्षा से कहेंगे तो सत्य भी हो सकती है, किंतु यह बात एकांत से असत्य है।), तब (उस ज्ञानमात्रभाव का= समयसाररुपआत्मा का) पर्यायों से अनेकत्व प्रकाशित करता हुआ अनेकांत ही उसे अपना नाश नही करने देता । 4।

जब यह ज्ञानमात्रभाव, जानने में आने वाले ऐसे परद्रव्योंके परिणमनके कारण ज्ञातद्रव्य को परद्रव्यरुपसे मानकर–अंगीकार करके नाश को प्राप्त होता है (यानि कि–आत्मा वास्तव में पर को जानता है, मगर जब वह परद्रव्यको जाननेरुप परिणमता है तब वह खुदको परद्रव्य रुप मानेगा वह मिथ्यात्वी है), तब (उस ज्ञान मात्र भाव का) स्वद्रव्यसे तत्व प्रकाशित करता हुआ अनेकांत ही उसे जिलाता है–नष्ट नहीं होने देता । 5।

जब यह ज्ञानमात्रभाव अनित्य ज्ञान विशेषोंके द्वारा(परको जानने रुप परिणमके) अपना नित्य ज्ञानसामान्य खंडित हुआ मानकर नाशको प्राप्त होता है (अर्थात् ऐसा मानता है कि– आत्माका परका जानना परमपारिणामिकभावरुप दृष्टिका विषय का नाश करता है, वह यथार्थ नहीं है, क्योंकि वे पर के परिणमनरुप खुद के विशेष आकारों को गौण करते ही समयसाररुप=परमपारिणामिकभावरुप की प्राप्ति होती है; सम्यग्दर्शन होता है।) तब (उस ज्ञानमात्रभाव का) ज्ञान सामान्य रुप से नित्यत्व प्रकाशित करता हुआ अनेकांत ही उसे जीलाता है–नष्ट नहीं होने देता।। 13। (यही भाव कलश–143 में भी दृढ़ कराया है कि– सहज ज्ञान के परिणमन से=परमपारिणामिकभाव के द्वारा यह ज्ञान मात्र पद–समयसार रुप आत्मा कर्म से वास्तव में व्याप्त नहीं है=कर्मों से जिता जाय ऐसा नहीं है, इसीलिए निज ज्ञानकला के बल से=मतिज्ञान आदि रुपसे=ज्ञेयाकार रुप परिणमनसे यह पद को=समयसाररुपपद=परमपारिणामिकभावरुपपद का अभ्यास करने को जगत सतत प्रयास करो। यहाँ आत्मा के पर को जानने रुप परिणाम को सीढ़ी रुप=आलंबन रुप बताके उससे समयसार रुप भगवान आत्मा की प्राप्ति का अभ्यास=प्रयास करने को कहा है।)

और जब यह ज्ञानमात्रभाव नित्य ज्ञानसामान्य का ग्रहण करने के लिए (समयसाररुप परम पारिणामिकभाव को ग्रहण करने के लिए=सम्यक्दर्शन के लिए) अनित्य ज्ञान विशेषों के त्याग द्वारा अपना नाश करता है (अर्थात् ऐसी प्ररुपणा करे कि– ''आत्मा वास्तव में परको नहीं जानता'' और उससे ज्ञेयोंका– अनित्य ज्ञान विशेषों का त्याग द्वारा अपना नाश करता है। दूसरा, ज्ञान विशेष रुप पर्यायों का=विभावपर्यायों का त्याग करके भी खुद का नाश होता है और वह भ्रम में ही रहता है। इसीलिए जिनागमों में ज्ञान विशेषों का त्याग नहीं परंतु उसको गौण करने का विधान है, जो कि अनेकांत स्वरुप आत्मा का नाश होने नहीं देता अर्थात् मिथ्यात्वरुप नहीं परिणमता) (अर्थात् ज्ञान के

विशेषोंका त्याग करके अपने को नष्ट करता है), तब (उस ज्ञानमात्रभाव का) ज्ञान विशेषरुपसे अनित्यत्व प्रकाशित करता हुआ अनेकांत ही उसे अपना नाश नहीं करने देता। ।14।

कलश–250–(श्लोकार्थ में से)– पशु अर्थात् सर्वथा एकांतपक्षी अज्ञानी, बाहय पदार्थ को ग्रहण करके (ज्ञान के) स्वभावकी अतिशयता के कारण (यहाँ समझ में आता है कि आत्मा पर को जानता है, वह उसके स्वभाव की अतिशयता है) चारों ओर (सर्वत्र) प्रगट होने वाले अनेक प्रकारके ज्ञेयाकारों से जिसकि शक्ति विशीर्ण (छिन्न–भिन्न) हो गई है ऐसा होकर (अर्थात् अनेक ज्ञेयोंके आकारों के ज्ञान में ज्ञात होने पर ज्ञान की शक्ति को छिन्न–भिन्न–खंड–खंडरुप हो गई मानकर=अर्थात् अज्ञानी आत्मा कि जो स्वभाव से स्व–पर प्रकाशक शक्ति है–जिससे आत्मा पर को जानता है, उससे समयसार रुप आत्मा का नाश मानते है। इसीलिए ऐसी प्ररुपणा करते हैं कि– जब तक आत्मा परको जानता है– ऐसा मानेंगे तब तक सम्यक्‌दर्शन नहीं होगा=समयसाररुप भगवान आत्मा की प्राप्ति नहीं होगी। और इसी कारण से यह एकांत प्ररुपणा करते हैं कि– 'वास्तव में आत्मा पर को नही जानता') संपूर्णतया खंड—खंड होता हुआ (अर्थात् खंड—खंड रुप– अनेक रुप होता हुआ=अज्ञानी को खंड खंड रुप विशेष भाव में रहा हुआ ज्ञान सामान्यभाव जाननेमें नहीं आता–अखंडभाव जानने में नहीं आता इसीलिए खंड—खंड रुप विशेषभावों का निषेध करते हैं,) नष्ट हो जाता है; और अनेकांतका जाननेवाला (ज्ञानी) तो, सदा उदित (प्रकाशमान) एक द्रव्यत्व के कारण (ज्ञान सामान्यभाव=परमपारिणामिकभाव–समयसाररुपभाव–खंड—खंड भासित होनेवाले ज्ञान में छिपा हुआ अखंड ज्ञानस्वरुप अनुभूति से) भेद के भ्रम को नष्ट करता हुआ (अर्थात् ज्ञेयों के भेद से ज्ञान में सर्वथा भेद हो जायेगा ऐसे भ्रमको नष्ट करता हुआ–अर्थात्– अगर ज्ञान को पर का जानपना मानेंगे तो सम्यग्दर्शन नहीं होगा ऐसे भ्रम को नष्ट करता हुआ) जो एक है और जिसका अनुभवन (समयसाररुप=परमपारिणामिकभावरुप=ज्ञानसामान्यरुप एक–अभेद–आत्मा) निर्बाध है ऐसे ज्ञान को देखता है– अनुभव करता है।

कलश–262–(श्लोकार्थ में से)– इस प्रकार अनेकांत अर्थात् स्याद्वाद अज्ञानमूढ़ प्राणियोंको ज्ञान मात्र आत्मतत्व प्रसिद्ध करता हुआ स्वयमेव अनुभव में आता है।

कलश–265– भावार्थ– जो सत्पुरुष अनेकांतके साथ सुसंगत दृष्टिके द्वारा अनेकांतमय वस्तुस्थिति को देखते हैं, वे इस प्रकार स्याद्वादकी शुद्धि को प्राप्त करके–जान करके, जिनदेव के मार्ग को स्याद्वाद न्याय को– उल्लंघन न करते हुए, ज्ञानस्वरुप होते हैं।

कलश–270 श्लोकार्थ– अनेक प्रकार की निज शक्तियों के समुदायमय आत्मा नयोंकी दृष्टिसे खंड खंडरुप किए जाने पर तत्काल नाश को प्राप्त होता है;(अगर किसीभी नयको एकांत ग्रहण किया जाय या प्ररुपणा की जाय तो आत्मा खंड–खंड होता है और तत्काल नाश को प्राप्त होता है यानि मिथ्यात्व को प्राप्त होता है); इसीलिए मैं ऐसा अनुभव करता हूँ कि– 'जिसमेंसे खंडों को निराकृत (बहिष्कृत; दूर; रदबातल; नाकबूल) नहीं किया गया है (अर्थात्– खंडखंडरुप ज्ञेय हो या विभावपर्याय हो उसको आत्मा में से निकालने की बजाय गौण करके) तथापि जो अखंड हे, एक है, एकांत शांत है (अर्थात् खंडखंडरुप विशेषभाव में अखंड सामान्यभाव छिपा हुआ है इसीलिए खंडखंडभाव का निषेध नहीं, उसको गौण करते ही अखंडभाव की प्राप्ति होती है।) (अर्थात् जिसमें कर्मोदयका उदय लेश मात्र भी नहीं है ऐसा अत्यंत शांत भावमय है) और अचल है (अर्थात् कर्मोदय से चलायमान च्युत नहीं होता) ऐसा चैतन्य मात्र तेज मैं हूँ।

कलश–271–भावार्थ= ज्ञानमात्रभाव (परमपारिणामिकभाव) ज्ञातृक्रियारुप होनेसे ज्ञानस्वरुप है। (यहाँ समझना यह है कि– जो अज्ञानी है और जिसे आत्म प्राप्ति की तलप भी है उसको ज्ञान– जो कि आत्मा का लक्षण है– जो स्व–पर को जानता है ऐसा ज्ञानमात्र स्वरुप आत्मा का है। अर्थात् जो ज्ञेय को जाननेवाला है– वह जाननेवाला मै हूँ। उस जानन क्रिया के समयमें ही ज्ञेय को गौण करते ही, निषेध करके नहीं, सामान्यज्ञानरुप ज्ञानमात्र भावकी प्राप्ति होती है।) और वह स्वयं ही इस प्रकार से ज्ञेय रुप है। (अर्थात् ज्ञेय है वह ज्ञान ही है... और ज्ञान है वह ज्ञायक ही है; फिर पर के जानने का=ज्ञेयको जानने का निषेध करने पर ज्ञान का निषेध होता है=ज्ञान मात्र भावके अभाव का प्रसंग आता है) बाह्य ज्ञेय ज्ञान से भिन्न है, वे ज्ञान में प्रविष्ट नहीं होते; ज्ञेयोके आकारकी झलक ज्ञान में पडने पर ज्ञान ज्ञेयाकाररुप दिखाइ देता है परंतु वे ज्ञान की ही तरंगे हैं। (जब ज्ञेय को जानने का निषेध करने से ज्ञानकी ही तरंगों का निषेध होता है कि जो स्वयं ज्ञानमात्र ही है। इसलिए ज्ञेय को जानने का निषेध करते ही ज्ञानमात्र का अभाव होता है। जिसका परिणाम भ्रमरुप है।) वे ज्ञान तरंगें ही ज्ञान के द्वारा होती है। (यहाँ यह समझना जरूरी है कि– गाथा 6 की टीका में बताये अनुसार ज्ञान तरंगे=ज्ञेयाकार और ज्ञान मात्र यह दोनों अभिन्न है, अनन्य है। और अगर वह ज्ञान तरंग का निषेध करते हैं अर्थात् पर के जानने का निषेध करने में आया तो वह निषेध ज्ञायक का ही समझना कारण कर्ता–कर्म का अनन्यपना होने से ज्ञेयाकार ज्ञायक ही है।) ईस प्रकार स्वयं ही स्वतः जनाने योग्य होने से ज्ञानमात्रभाव (परमपारिणामिकभाव) ही ज्ञेय रुप है। (यहाँ अगर ज्ञेय को जानने का निषेध किया तो वह ज्ञानमात्रभाव=समयसाररुपभाव का ही निषेध होने से आत्मा की प्राप्ति नहीं होती।) और स्वयं (ज्ञानमात्रभाव) जानने वाला होने से ज्ञानमात्रभाव ही ज्ञाता है। (अर्थात् जो ज्ञेयों को जानता है वह मै हूँ;– अर्थात् ज्ञेयों को गौण करते ही मैं=परमपारिणामिकभाव प्रकट होता है, नहीं कि–ज्ञेयों के जानने का निषेध करके)। इस प्रकार ज्ञान मात्र भाव ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता– इन तीनों भावों से युक्त सामान्यविशेषस्वरुप वस्तु है। (सामान्य–विशेष में नियम ऐसा है कि– विशेष को निकालते ही सामान्य भी निकल जाता है, इसीलिए यहाँ विशेष को गौण करते ही सामान्य हाजिर हो जाता है ऐसा समझना। अर्थात् ज्ञान–ज्ञेय–ज्ञाता में से किसी भी एक का निषेध वह तीनों का निषेध अर्थात् ज्ञायक का निषेध है ऐसा समझना) 'ऐसा ज्ञानमात्रभाव मैं हूँ' इस प्रकार अनुभव करने वाला पुरुष अनुभव करता है। (अर्थात् यह जो जान रहा है वह मैं हूँ। वह जानना स्व का हो या पर का, यहाँ यह समझना है कि कोई भी विधि से अर्थात् स्व का या पर का कोई भी जानपना का निषेध वह आत्मा का=ज्ञायक का निषेध होनेसे वह जिनमत बाहय ही है ऐसा समयसार गाथा–2 की टीका में स्पष्ट प्रतिपादन किया गया है।)

यही बात कलश–140 में भी बताई है कि– एक ज्ञायकभावसे भरे हुए महास्वाद को लेता हुआ, (इस प्रकार ज्ञान में ही एकाग्र होने पर दूसरा स्वाद नहीं आता इसीलिए) द्वंद्वमय स्वाद के लेने में असमर्थ (वहाँ स्व–पर नहीं, मात्र मैं हूँ) (अर्थात् वर्णादिक, रागादिक तथा क्षयोपशमिक ज्ञान के भेदों का स्वाद लेने में असमर्थ–इसीलिए ऐसा कह सकते हैं कि अनुभूति के काल में आत्मा पर को नहीं जानता) आत्मानुभव के स्वाद के–प्रभाव के आधीन होने से निज वस्तुवृत्तिको(आत्मा की शुद्ध परिणति को=परमपारिणामिकभाव को=समयसाररुपभाव को=कारणशुद्धपर्याय को) जानता आस्वाद लेता हुआ(आत्मा के अद्वितीय स्वाद के अनुभवमेंसे बाहर न आता हुआ–वहाँ कोई स्व–पर नहीं है=वहाँ द्रव्य–पर्याय ऐसा कोई भेद नहीं है क्योंकि वर्तमान पर्याय में ही पूर्ण द्रव्य व्यक्त होता है=समा जाता

है।) यह आत्मा ज्ञानके विशेषों के उदय को गौण करता हुआ(यहाँ समझना है कि–विशेषों का निषेध नहीं उसको मात्र गौण किया है। यही विधि है अनुभवकी।) सामान्य मात्र ज्ञान का अभ्यास करता हुआ, सकल ज्ञान को एकत्व में लाता है–एकरुप में प्राप्त करता है।

कलश– 261–भावार्थ– एकांतवादी ज्ञानको सर्वथा एकाकार–नित्य प्राप्त करनेकी वांछासे, उत्पन्न होनेवाली और नाश होनेवाली चैतन्य परिणतिसे भिन्न कुछ ज्ञान को चाहता है; (जैसे कि पर को जानने का निषेध करके या पर्याय को दव्य रुप नहीं मानके); परंतु परिणाम(पर्याय–ज्ञेय) के अतिरिक्त कोई पृथक परिणामी तो नहीं होता। (इसीलिए ज्ञेय या पर्याय को निकालने से पूर्ण द्रव्य ही निकल जाता है, जिससे परिणामी हाथ आता नहीं=सम्यग्दर्शन होता नहीं)। स्वादवादी तो यह मानता है कि–यद्यपि दव्य अपेक्षा से ज्ञान नित्य है तथापि क्रमशः उत्पन्न होनेवाली और नष्ट होनेवाली चैतन्य परिणति के क्रम के कारण ज्ञान अनित्य भी है; ऐसा ही वस्तु स्वभाव है।

कलश–275–(श्लोकार्थ–) सहज (अपने 'स्व'भावरुप–'स्व' का सहज भवन रुप 'स्व' का सहज परिणमन=परमपारिणामिकभाव=कारणशुद्धपर्याय) तेजःपूंजमें (ज्ञानमात्रमें) त्रिलोक के पदार्थ मग्न हो जाते हैं (ज्ञान मात्र ऐसे आत्मा का स्वभाव ही स्वपर प्रकाशक होने से सर्व ज्ञेय जानने में आते है–जानता है।) इसीलिए जिसमें अनेक भेद होते हुये दिखाई देते हैं (यानि ज्ञानमात्र भाव का ज्ञेय रुप परिणमन दिखता है– होता है, फिर भी उससे डरके जो ज्ञानमात्र भाव का स्वभाव है–ज्ञेय को जानने का उसका निषेध कभी भी नहीं कर सकते।) तथापि जिसका एक ही स्वरुप है (सामान्य भाव खंडखंड नहीं होता, वह अभेद ही रहता है इसीलिए पर के जानने में डरकी कोई बात नहीं).......

सर्व जीव यह एक ज्ञानमात्रभाव=समयसाररुपभाव का अनुभवन करो और अक्षय कल्याण को प्राप्त करो यह एक मात्र इरछा से इतना लिखा गया है ऐसा जानना।

जयेश शेठ (बोरीवली)